संदर्भ का 73वाँ अंक पढ़ने को मिला। डेनियल ग्रीनबर्ग का लेख किसी भी शिक्षक के साथ-साथ अभिभावकों के लिए भी प्रेरणादायक होगा। अलक्स एम जार्ज का लेख काफी क्लिष्ट लग रहा है। लेखक अन्त तक सामान्य पाठकों को यह नहीं समझा पाए कि वे समझाना क्या चाहते हैं। कैरन हैडॉक का लेख विचारोत्तेजक है। इस लेख में मानव विकास समझाने के लिए महिला का चित्र (लगभग नग्न) देखने को मिला। यह बात सही है कि कई बार विचार आता है कि विकास क्या केवल पुरुषों में ही हुआ है। विकास तो पुरुष और महिला दोनों में एक ही साथ हुआ होगा। फिर भी इस तरह महिलाओं के नग्न चित्र द्वारा विकास को समझाना कितना उचित है, यह विचारणीय बिन्दु है। 'खेल खेल में भाषा शिक्षण' कक्षा शिक्षण के लिए एक उपयोगी टूल साबित हो सकता है।

ऐतिहासिक विधि द्वारा विज्ञान की खोजों को समझाने का एक शानदार उदाहरण आवर्त सारणी वाला लेख है। आवरण पृष्ठ वाला आलेख नवीन जानकारी युक्त लगा। पेज क्रमांक 4 पर प्रकाशित विज्ञापन सृजनात्मकता का एक बेहतरीन नमूना लगा। 'शिक्षा को दिलचस्प बनाने का एक जतन' लेख पढ़कर ऐसा लगा कि होविशिका - बाल वैज्ञानिक कक्षा 6,7,8 (एकलव्य प्रकाशन) का पुनरावृत्ति/लेख संस्करण के रुप में छापा गया हो। 'मिड-डे-मील' की लेखिका को एक-दो स्कूल के अवलोकन से ही अपना निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए।

रिनचिन की कहानी बहुत ही नकारात्मक एप्रोच/ विचार वाली लगी। किसी के अवगुणों को हाई-लाइट कर लेखिका समाज में आखिर क्या सन्देश देना चाहती हैं? यदि कहानी में सकारात्मक गुणों से भरे हुए किसी शिक्षक के गुणों का प्रचार-प्रसार किया जाता तो शायद शिक्षक, बच्चों व समाज के सामने एक रोल मॉडल प्रस्तुत किया जा सकता था। आकर्षक छपाई व साज-सज्जा के लिए सम्पादक मण्डल को बधाई।

काजल कुमार नन्दी
उज्जैन (म.प्र.)

संदर्भ का नया अंक-75 नए शैक्षिक सत्र में मॉनसून की पहली फुहार की मानिन्द आया। यूँ तो अबकी बार सभी लेख सराहनीय थे, पर लैंगिकता संवाद शिविर में जिस मुद्दे को आपने उठाया है, इस अंक के मिलने से एक रोज़ पहले ही मैं ऐसे ही एक नए अनुभव से गुज़रा था। आजकल मैं एक प्राथमिक विद्यालय में शिक्षक हूँ जिसमें औपचारिक रूप से तो 6 से 11 साल के बच्चे होते हैं पर चूँकि इन बच्चों के माँ-बाप ज़्यादातर रोज़ खाने-कमाने के उत्तरदायित्व वाले होते हैं इसलिए उनके अपने दूध पीते बच्चों से लेकर चार-पाँच साल तक के मासूम भी अपने बड़े भाई-बहनों या पड़ोसियों के बच्चों के साथ हमारे विद्यालय में आ जाते हैं।

हुआ यूँ कि 3-4 दिन पहले तकरीबन चार साल की एक बच्ची मेरे पास अपनी मर्ज़ी से एक चित्र बनाकर लाई। मैंने उससे पूछा "ये किसका चित्र है?" तो वो बड़ी मासूमियत से बोली "छोरो", छोरो राजस्थानी में लड़के को कहते हैं। फिर मैंने उस चित्र को ध्यान से देखा तो उस चित्र की दोनों

टांगों के बीच में उसने एक पतली-सी आयतनुमा नलकी-सी बना रखी थी। मैंने पूछा, "ये क्या है?" तो वह तुरन्त ही बिना झिझके स्वाभाविक रूप से बोली "या तो मुन्नी है गुलुजी (यह तो मुन्नी है गुरूजी)।" मुझे शिक्षक बने 15 साल से ज़्यादा हो गए। मैं लगभग 10 साल उच्च प्राथमिक स्कूलों में भी पढ़ा चुका हूँ, पर ऐसी हिमाकत आज तक किसी ने नहीं की। यदि यह हरकत आज से 10-12 साल पहले हुई होती तो शायद मैं उस बच्ची को थप्पड़ मारता, झिड़कता या फिर उसके अभिभावकों को बुलाकर उसकी करतूत के बारे में बताता। पर धन्यवाद अदा करता हूँ एकलव्य जैसे प्रकाशन और कुछ अन्य बाल मनोविज्ञान की पुस्तकों का कि उस दिन मैंने ऐसा कुछ नहीं किया वरन मन-ही-मन उस लड़की को धन्यवाद दे रहा था कि मेरे किताबी ज्ञान को आज उसने सार्थक कर दिया और इसलिए मैंने उसे सुन्दर कहकर बैठा दिया।

परन्तु, कल भी एक इसी तरह की घटना और हुई कि एक नवागन्तुक बच्चे ने भी इसी तरह का चित्र बनाया। इस विद्यालय में हम दो ही शिक्षक कार्यरत हैं इसलिए सभी कक्षाओं को एक साथ अध्यापन नहीं करवा सकते; अतः सभी को व्यस्त रखने के लिए पहली कक्षा और अनामांकित बच्चों को उनकी मर्ज़ी से चित्र बनाने को कहकर अन्य कक्षाओं का टेस्ट ले रहे थे कि वह बच्चा उसी तरह का चित्र लिए मेरे पास आया और मैंने उसी प्रकार पूछा तो उसने बस गुप्तांग का नाम 'मूतनी' लिया। मैं वह चित्र हमारे संस्था प्रधान को दिखाने ले गया तो उनके चेहरे पर नापसन्दगी वाले भाव थे और उन्होंने किसी पूर्वाग्रहग्रस्त व्यक्ति की तरह इसे उस सामाजिक वातावरण का ओछा प्रभाव बताया। इसमें उनका कसूर नहीं क्योंकि उन्होंने इस विषय में कोई औपचारिक शिक्षक प्रशिक्षण नहीं लिया और न ही उनकी गैर-पाठ्यक्रमीय पुस्तकों में रुचि ही है।

इतने में वही बच्ची उसके चित्र को देख कर बोली गुलुजी मैं भी छोरो बनाऊँगी। तो मैंने सोचा क्यूँ न इसकी लगन को अन्य तरह से जाँचा जाए। तो मैंने उसे कहा, "छोरो नहीं तू छोरी (लड़की) बनागे ल्या।" तो उसने थोड़ी ही देर में चित्र बनाकर मेरे आगे प्रस्तुत कर दिया और मेरी प्रतिपुष्टि का इन्तज़ार करने लगी। परन्तु अबकी बार उसने चित्र में और लक्षण जैसे कपड़े और सिर के बाल तो लड़की जैसे बना दिए पर गुप्तांग फिर वही लड़के जैसा यानी मूतनी ही बनाकर लाई। मैंने उसे कहा "बेटी ऐसी मूतनी लड़की के तो नहीं होती।" उसने झट मेरी ओर देखकर मेरी राय से इत्तेफाक-सा जताते हुए तुरन्त ही पूछे बगैर स्लेट से उस मूतनी को पोंछ दिया, और अपनी गलती पर पछतावे-सा भाव चेहरे पर लेकर वह चली गई। बच्चों के इस व्यवहार से मुझे गिजुभाई वधेका का वह कथन याद आ गया कि बच्चे अन्तर्यामी और सर्वज्ञ होते हैं।

***

इसके अलावा डेनियल ग्रीनबर्ग के 'द सडबरी वैली स्कूल' में भी यही दिखाया है कि बच्चों की छोटी-छोटी बातों मे भी बड़े-बड़े राज़ और इरादे छिपे रहते हैं जिसे हम 'बड़े' प्रायः समझ नहीं पाते। कई बार जो वो देखते हैं वह हम नहीं देख पाते। 'प्लेसीबो यूँ बेअसर ही सही' को पढ़कर

मुझे अपना एक पारिवारिक अनुभव याद आ गया। 6-7 साल पहले मेरी बेटी सात साल की थी। उसे पता नहीं क्या बीमारी थी कि स्कूल जाने के समय उसे वास्तव में पेट दर्द होने लगता। मैं 'वास्तव में' इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि वह इतनी शर्मीली और सीधी-सादी है कि कोई बदमाशी या शैतानी जानती ही नहीं। मैंने उसका स्कूल बदला कि शायद स्कूल का कोई भय हो लेकिन समस्या जस-की-तस। फिर दूसरा स्कूल बदला। जब हम उसे कोई दवा-दारू देकर ज़बरदस्ती स्कूल भेज देते तो फिर उसे एक और नई बीमारी होने लगी - उसके हाथों की उँगलियों के बीच और नाभि में खूब खुजली शुरू हो जाती। मैंने उसे हिसार के अच्छे अस्पताल में दिखाया। डॉक्टर ने उसके पेट में कीड़े बताकर भर्ती कर लिया। लेकिन 2-4 रोज़ के बाद वही समस्या। उसे देसी व अँग्रेज़ी कई दवाइयाँ दी पर स्कूल का नाम लेते ही उसके चेहरे पर और आँखों के नीचे कालिमा छा जाती।

फिर मेरा तबादला एक कस्बे में हो गया। वहाँ स्कूल भी नया था लेकिन मेरी बेटी की हालत में कोई फर्क नहीं, मैंने उसे सरकारी अस्पताल में आए नए शिशु रोग विशेषज्ञ को दिखाया और सारी बातें बताई। तो, उन्होंने मुझे अकेले में कहा कि यह कोई रोग नहीं बल्कि एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक समस्या है, इसका इलाज़ भी मनोवैज्ञानिक तरीके से करना होगा। मैं उसे अब कोई दवा न देकर नकली कैप्सूल (प्लेसिबो) और कुछ टॉनिक दूँगा, लेकिन उसे बताना नहीं। फिर उन्होंने बेटी को पास बुलाकर कहा कि मैं तेरे लिए तेज़ दवा दे रहा हूँ। इससे ऊपर कोई दवा नहीं है, लेकिन अगर इससे भी ठीक न हुई तो फिर तुम्हारा पेट चीरकर उसमें से कीड़े निकालने होंगे और नाक में से नलकी लगानी होगी जैसे उस कमरे में एक बच्चे के लगी है। ...और ताज्जुब है कि इस बार उस दवा का ऐसा असर हुआ कि उसे वह शिकायत फिर कभी न हुई।

पाठ्य पुस्तक समीक्षा में मैंने अभी तक सन्दर्भ में जितनी भी समीक्षाएँ पढ़ी हैं, उनमें अभी तक का अनुभव कहता है कि आप या तो समीक्षा के लिए पुस्तक ही जानबूझकर कमियों वाली ढूँढ़ते हैं या फिर आपको नज़र ही कमियाँ आती हैं, नहीं तो आपको किसी अच्छी पाठ्य पुस्तक की समीक्षा भी देनी चाहिए।

रस्किन बाण्ड की कहानी 'घर' में जिस प्रकार का वातावरण और बाल असन्तोष दिखाया है वह बड़ों की नासमझी; या बड़ों का अहंकार; या फिर गुरू होने का गुरूर होता है जो बचपन को या तो समझ नहीं पाते या स्वीकार नहीं करना चाहते। जिसका परिणाम पलायन होता है चाहे वह स्कूल से हो या फिर घर से।

रमेश जांगिड़, शिक्षक
ग्राम पोस्ट, भिरानी, तहसील-भादरा
ज़िला-हनुमान गढ़ (राजस्थान)

भूल-सुधार

संदर्भ अंक-75 के लेख 'कुछ और गतिविधियों से भाषा शिक्षण' में लेखक के परिचय में भूलवश लिख दिया गया था कि वे इब्तिदा संस्था से सम्बद्ध हैं। उनका सही परिचय इस प्रकार है - दिलिप चुघ वर्तमान में कैवल्य फाउण्डेशन में कार्यरत हैं।

-सम्पादक मण्डल